

अनन्तर/जनसत्ता/१३ अगस्त, २००६

## कथा से बाहर आती पटकथा

ओम थानवी

मैक्सिकी निर्देशक अलेहांद्रो गोंजालेज इनायार्तु की फिल्म 'एमोरेस पैरोस' छह साल पहले आई थी। वह मुझे गैर-जरूरी हिंसा से घिरी लगी। लेकिन उसका शिल्प नया था और उसमें चमक थी। बाद में इनायार्तु की '२१ ग्राम' देखकर मैं अभिभूत हो गया। कई दफा परिणाम इतने असरदार होते हैं कि कारण का बोध अलग से नहीं हो पाता। उसे आप तब लक्ष्य करते हैं जब असर की पकड़ ढीली पड़ने लगे। या तब जब आप किसी दूसरे जादू की पकड़ में आ जाएं। हाल में मैंने जब पॉल एगिस की फिल्म 'क्रैश' और माइकल हैनेके की फ्रांसीसी फिल्म 'काशे' देखी तो साफ महसूस हुआ कि नया सिनेमा कथ्य और उसकी अभिव्यक्ति की नई परती तोड़ रहा है। कहानी के बने-बनाए ढांचे के पार जा रहा है। कथन के पारंपरिक रूप को छोड़ते हुए, जो दरअसल साहित्य का अंग है।

सिनेमा की विधा के आविष्कार के साथ ही कहानी अभिव्यक्ति के इस नए माध्यम का बुनियादी सहारा बन गई थी। पहले कथा, फिर पटकथा। सिनेमा का एक सदी का सफर इसी सिलसिले की दास्तान है। यों अभिव्यक्ति की हर विधा दूसरी विधा को प्रभावित करती आई है। सिनेमा ने भी साहित्य को प्रभावित किया है। लेकिन हाल के इतिहास में सिनेमा को छोड़ दूसरी विधा शायद ही हो जिसने अपनी शुरुआत दूसरी विधा के साथ मिलकर की। बड़ी तादाद में जानी-मानी कथाकृतियां- कुछ नाटक और महाकाव्य भी- सिनेमा का आधार बनी हैं। सिनेमा के लिए कहानियां अलग से आज भी लिखी जाती हैं। लेकिन जिन फिल्मों का जिक्र मैंने ऊपर किया, वे बताती हैं कि अब हमेशा फिल्म की कहानी नहीं लिखी जाती। यानी पटकथा एक सिरे से दूसरे सिरे तक इतिवृत्त बनाने वाली कथा का वर्णन नहीं करती। कुछ परिस्थितियों के चित्रण के सहारे फिल्म का ताना-बाना यानी कथानक बुन लिया जाता है। इस तरह कहानी भले नहीं बनती, मगर एक बात बनती है। घटनाओं या स्थितियों में तारतम्य नहीं रहता, पर बात आपस में सबसे जुड़ी रहती है।

यह सिनेमा का अपना कथ्य है। उसे देखने और दिखाने का अपना तरीका। यह कथा से पटकथा के सिलसिले को उलटे पांव मोड़ लाना है। पटकथा से कथा की तरफ आना। कथन पर ठहरना और फिर उससे आगे जाकर उस रूप का आविष्कार करना जिसे मराठी में कहन कहते हैं। फिराक गोखपुरी भी इस विशेषण का खूब इस्तेमाल करते थे। कहन माने कहने की अपनी शैली। कोई विधा अभिव्यक्ति की अपनी शैली की वजह से ही अलग विधा कहलाती है। इसी में विधा की मौलिकता है, उसकी स्वायत्तता और संपूर्णता भी। नाटक यह काम बहुत पहले कर चुका है। वह विधा हजारों साल पुरानी है। उसे देखते सिनेमा ने अपनी राह खोजने में बहुत देर नहीं की है।

कहने की जरूरत नहीं कि यह एक प्रवृत्ति की तरफ इशारा है। लेकिन सिनेमा में यह मुकाम आता जरूर दीखता है। यह निरा प्रयोगवाद नहीं है। ज्यादातर ये हॉलीवुड की व्यावसायिक फिल्में हैं, जिन्हें पुरस्कारों की दुनिया में भी अपूर्व सफलता हासिल हुई है। ऐसी स्वीकृति का एक मतलब प्रवृत्ति को आगे मिलने वाली मान्यता होता है। 'क्रैश' को इसी साल सर्वश्रेष्ठ फिल्म का ऑस्कर मिला है। दो ऑस्कर सर्वश्रेष्ठ फिल्म-लेखन और संपादन के लिए भी। फिल्म को कुल छह ऑस्कर प्रस्तावित हुए थे। 'काशे' को श्रेष्ठ निर्देशक और फिल्म-लेखन के लिए इस वर्ष सेजार

पुरस्कार मिला। पिछले वर्ष कान में फिल्म को श्रेष्ठ निर्देशन का सम्मान हासिल हुआ था। '२१ ग्राम' को दो वर्ष पहले छोटे-बड़े चालीस पुरस्कार मिले। उसे दो ऑस्कर भी प्रस्तावित हुए थे।

'क्रैश' को आप बखूबी एक राजनीतिक फिल्म कह सकते हैं। लेकिन आम अर्थों में नहीं। उसमें राजनेता नहीं हैं, कोई विचारधारा नहीं है, न चुनाव हैं, न नारे। फिल्म नस्लवाद की समस्या उठाती है। लेकिन संकेतों में। सब अमेरिका के एक शहर में छत्तीस घंटे का घटनाक्रम है। पर जाति, वर्ग, धर्म या फिरकापरस्ती की शकल में यह दुनिया के किसी भी कोने में पहचाना जा सकता है। पॉल एगिस- निर्देशक के नाते जिनकी यह पहली फिल्म है- इससे पहले 'मिलियन डॉलर बेबी' की पटकथा लिख चुके हैं। उस पर भी उन्हें ऑस्कर मिला था। लेकिन 'क्रैश' की पटकथा उस फिल्म से बिलकुल उलट शैली में चलती है। एक के बाद एक दारुण स्थितियां पेश आती हैं, जिनका आपस में कोई संबंध नहीं है। लेकिन सारे प्रसंग, एक-दूसरे से गड्डमड्ड होते हुए अंत तक आते-आते एक स्तर पर हमें आपस में जुड़े हुए प्रतीत होते हैं।

लगता है जैसे बिखरे हुए सूत्रों को फिल्म नहीं, दर्शक जोड़ रहे हों। आप घटनाओं से ज्यादा पात्रों पर गौर करते हैं। बुरा आदमी अचानक संवेदनशील इंसान बनकर प्रकट होता है। भला आदमी किसी शरीफ पर बंदूक तान लेता है। जब में हाथ ठूंसे जिस युवक को आप हथियारबंद समझ रहे थे, उसने जब में पिस्तौल पर नहीं देवता की प्रतिमा पर हाथ रख रखा था। एक गोरा पुलिस अफसर, जो सड़क चलती अफ्रीकी मूल की युवती का अपमान करते हुए घोर नस्लवादी चरित्र में प्रकट होता है, परेशान घड़ियों में नेक दिखाई देता है। फिल्म के अंत में जान पर खेलते हुए हम उसे उसी युवती को आग की लपटों के बीच से बाहर निकालते देखते हैं। फिल्म में श्वेत-अश्वेत हर चरित्र में यह जटिल ड्रॉव आपको दिखाई देगा।

हम हैरान होते हैं कि कैसे लोग अनजाने लोगों से छोटी बात पर अकारण लड़ पड़ते हैं। लेकिन एक कारण- जो फिल्म साफ जाहिर करती है- अनजाना नहीं है: घृणा। दुनिया की सबसे पेचीदा समस्याओं में यह एक समस्या इकहरी नहीं है, फिल्म इस बात को बखूबी रेखांकित करती है। लोग आपसी अविश्वास में जी रहे हैं और अपनी कुंठाएं दूसरों पर लाद रहे हैं। दूसरे की अवज्ञा कर हम अपनी ही अवज्ञा कर रहे हैं। हम दूसरों का नहीं, अपना- और इस तरह सबका- जीवन बेचैन कर रहे हैं। यह फिल्म का संदेश नहीं है। लेकिन फिल्म जब सवाल उठाती है कि हम आखिर क्यों ठीक से साथ नहीं रह सकते, आपके भीतर जवाब अपने आप तैरने लगता है- क्योंकि हम शायद ऐसा चाहते नहीं हैं! फिल्म किसी एक वर्ग पर अंगुली नहीं उठाती। वह हम सबको एक जगह इकट्ठे ला खड़ा करती है।

इस भाव से अगर आपको 'मैग्नोलिया' या 'डू द राइट थिंग' जैसी फिल्मों की याद आती हो तो बताना उचित होगा कि 'क्रैश' अपने सरोकार में उनके समांतर भले हो, शिल्प में नितांत भिन्न दिशा में चलती है। फिल्म में नायक-नायिका नहीं हैं, न कोई केंद्रीय चरित्र है। कुछ खलनायक-से चरित्र जरूर हैं। परिस्थितियों से जूझते चेहरे, जिनमें कुछ से आप भी घृणा करने लगते हैं। धीमे-धीमे फिल्म उनके क्षोभ, दर्द और कुंठा को अनावृत्त करती है। सहसा आप उनसे सहानुभूति अनुभव करने लगते हैं। अमानवीय चरित्र मानवीय नजर आते हैं। दुनिया उतनी बुरी नहीं जितनी ऊपर से दिखाई देती थी, आप सोचते हैं। उठते-उठते आप शायद अपने भीतर भी झांकने लगते हैं। इस तरह पहले आपसे पटकथा के टूटे हुए टुकड़ों को जोड़ने की अपेक्षा करने वाली फिल्म मानो आपके हाथों में उलझी हुई समस्या को सुलझाने की जिम्मेवारी सौंप जाती है। वह आपको सिर्फ समस्या से दो-चार करती है, इस तरह कि उसे आप ठीक से पहचान सकें। वह उसका कोई हल नहीं सुझाती। यह अच्छी बात है। हल इतने सरल नहीं होते।

ऐसा अक्सर होता है कि हम समस्या को जानते हैं, मगर ठीक से पहचानते नहीं। देखते हैं, महसूस नहीं करते। जाहिर है कि हॉलीवुड-बॉलीवुड की निरे मनोरंजन से आक्रांत फिल्मों की भीड़

में- जिनमें राजनीतिक फिल्मों भी शामिल हैं- नई धारा की फिल्मों दर्शक को वैचारिक उत्तेजना का नया आयाम देती हैं; किसी मतवादी पूर्वग्रह से बरी एक मानवीय आयाम। नस्लवाद और फिरकापरस्ती जैसी समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में पहचानने में साहित्य और सिनेमा सार्थक हस्तक्षेप कर सकते हैं। लेखक और फिल्मकार इसमें जोखिम समझते हैं। या मतवादी नजरिया अख्तियार करते हैं जो प्रचार-प्रहार का रूप ले लेता है। पॉल एगिस ने 'क्रैश' से साबित किया है कि आप बगैर जोखिम उठाए महज संवेदन के स्तर पर बेहतर काम कर सकते हैं।

इनायतु की फिल्म '२१ ग्राम' का ताना-बाना कुछ भिन्न है। उसमें तीन अलग कहानियां चलती हैं। बाद में वे एक दुर्घटना से एक-दूसरे से जुड़ जाती हैं। यह फिल्म 'क्रैश' से एक साल पहले बनी थी, मगर उसकी शैली मोटे तौर पर वही है- उलझे हुए तार। अलग-अलग स्थितियां, लोग और घटनाएं। फिल्म का कथानक गिलेर्मो एरीगा ने लिखा है।

कहते हैं गया वक्त वापस नहीं आता। लेकिन फिल्म की तकनीक में वह अक्सर आता है। '२१ ग्राम' में वह लगातार आता और जाता है। लगता है जैसे फिल्मकार ने बनी-बनाई फिल्म को ताश के पत्तों की तरह फेंटकर आपके सामने रख दिया हो। उन्हें आप पारंपरिक कथा समझ कर जोड़ने लगे तो नहीं जोड़ पाएंगे। मगर तारतम्य ढूँढ़ेंगे तो सहज ही हासिल हो जाएगा। यही इस फिल्म का कथा-रूप है। फिल्म के हर पात्र का उलझा हुआ मन है। हरेक के मन में कोई दुविधा, कोई टीस, गांठ। हरदम सालने वाला अपराध-बोध।

फिल्म के नाम '२१ ग्राम' को अगर शब्दों में रखने की कोशिश करें तो बड़े आराम से उसे 'आत्मा का बोझ' कहा जा सकता है। विज्ञान में एक 'धारणा' प्रचलित है। कहते हैं, मृत्यु के वक्त व्यक्ति के शरीर का वजन फौरन इक्कीस ग्राम कम हो जाता है। बहुत-से लोग मान कर चलते हैं कि यह मनुष्य की आत्मा का वजन है, जो मृत्यु के साथ हलका हो जाता है। बहरहाल, फिल्म के पात्र जिंदा हैं और उनका २१ ग्राम यानी आत्मा का बोझ किसी ग्लानि के रूप में व्याप्त है। एक नशे से त्रस्त स्त्री है। उसका पति और बच्चे सड़क पार करते हुए एक हादसे में मारे गए हैं। जिस चालक ने तीनों को अपने बेकाबू ट्रक से रौंदा, उसकी आहत पत्नी ट्रक से खून के धब्बे मिटाने में लगी है। पर धर्मपरायण ड्राइवर अपना गुनाह पुलिस के सामने कबूल करेगा। उधर अस्पताल में मौत की घड़ियां गिनता एक अध्यापक दिल का मरीज है। दुर्घटना में मारे गए व्यक्ति के दिल के प्रत्यारोपण से उसका नया जीवन शुरू होता है। कृतज्ञ अध्यापक अपने आपको मृतक की पत्नी के करीब महसूस करता है। पर पत्नी की अपनी पीड़ा है। उसमें प्रतिशोध की आग है। पीछे अध्यापक की पत्नी के मन में पिछले विवाह के गर्भपात और अब गर्भ धारण न कर पाने की वेदना है।

आपको लगता होगा कि घटनाओं में एक सिलसिला है। लेकिन फिल्म में घटनाएं सिलसिलेवार नहीं हैं। यह हम बहुत देर से जानते हैं कि पात्र किस तरह जुड़े हुए हैं। असल में सारी घटनाएं पहले घट चुकी हैं। उन्हें टुकड़ों में हमारे सामने अब खंगाला जा रहा है। हम उनमें कहानी ढूँढ़ने के जतन में बिखरे सूत्रों को जोड़ते हुए मानव मन को एक तार में गूँथने की कोशिश करते हैं। लेकिन जोड़ने वाली चीज कहानी नहीं है, सिर्फ एक बोध है। वही बोध फिल्म से दर्शक को भी जोड़े रखता है। इस प्रक्रिया में दर्शक एक तटस्थ दर्शक की जगह सक्रिय भागीदार की भूमिका अनुभव करने लगता है।

हम देखते हैं आत्मा का कथित वजन भले इक्कीस ग्राम हो, फिल्म के पात्र उससे कहीं ज्यादा बोझ मन पर लादे हुए जीते हैं। लगता है जैसे वेदना के नरक और जीवन के बीच एक आवागमन हो। जैसा कि फिल्म अंत में कहती है: हम कितने जीवन जीते हैं? हम कितनी बार मरते हैं? कहते हैं मरते हुए हम इक्कीस ग्राम वजन खोते हैं। पर हमारे साथ कितना बोझ जाता है? इसका कोई हिसाब है?

मगर इससे आप यह न समझें कि फिल्म बोझिल और दुखदायी होगी। हर हाल में उम्मीद की लौ जलाए रखना फिल्म का उजला पहलू है। बहरहाल, हमारे मुद्दे में काम की बात यह है कि फिल्म में कथा उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी यह बात कि कथा कही कैसे गई है। शायद इसी बात ने फिल्म को अनूठा बनाया है।

इनमें सबसे नई फिल्म 'काशे' है। निर्देशक माइकल हैनेके फिल्म के लेखक भी हैं। उनकी कई फिल्मों में चर्चित हुई हैं जिनमें 'द प्यानो टीचर' और 'कोड अननोन' अहम हैं। 'काशे' में बहुत प्रयोगधर्मी कथानक नहीं है। यह एक रहस्य के गिर्द घूमती फिल्म है। लेकिन पारंपरिक कथाक्रम से 'काशे' भी बरी है। इसमें सिर्फ एक परिस्थिति का निरूपण है। टीवी पर किताबों की परिचर्चा (फ्रांस में यह आम है) करने वाले एक पत्रकार को उसके घर पर मिली गुमनाम वीडियो रेकार्डिंग और अनन्तर परिवार में भय, संदेह और गफलत में उत्पन्न तनाव। यही उसका सीधा-सादा सा लगता कथ्य है। पर ज्यों-ज्यों फिल्म आगे बढ़ती है, वह मनोविज्ञान से लेकर नस्लवाद तक कई पहलुओं को माप लेती है। छिटपुट घटनाएं अप्रत्याशित ढंग से घटती हैं और हम मूल समस्या- या फिल्म की अंतर्वस्तु- को याद करने का प्रयास करते हैं। अंत तक जो कुछ घटता है, लगता है फिल्म के रहस्य को वह कहीं नहीं ले जाता, लेकिन पात्र कहीं के कहीं पहुंच जाते हैं। अब जरा अल्फ्रेड हिचकॉक की किसी फिल्म को याद करें और देखें कि सिनेमा किस मोड़ पर आ पहुंचा है। हिचकॉक की फिल्मों में तनाव बनाए रखने में संगीत की बड़ी भूमिका होती थी; 'काशे' में सत्राटा, पदचाप और हवा 'संगीत' के ऐसे रूपक हैं जो कथानक के सारे रहस्य को अपने में थामे रहते हैं।

जाहिर है, सिनेमा में कथानक कथा के शिल्प से बाहर निकल रहा है। यों कथा-साहित्य में खुद विधा के साथ इतने प्रयोग हुए हैं कि सिनेमा की प्रयोगधर्मिता हमें चौंकाती नहीं। साहित्य से सिनेमा का रिश्ता भी किसी न किसी स्तर पर हमेशा बना रहेगा। शब्दों में रची दुनिया को कैमरे की आंख से देखना एक अलग अनुभव हो सकता है। लेकिन शब्द के अनुभव को चाक्षुष अनुभव में उसी गहराई के साथ व्यक्त करना लगभग नामुमकिन काम है। यही कारण है कि अक्सर श्रेष्ठ कथाकारों ने अपनी कृतियों पर बनी फिल्मों पर असंतोष जाहिर किया है।

असल में एक विधा से कला की दूसरी विधा में साहित्य महज 'चाक्षुष अनुवाद' के रूप में देर तक मददगार साबित नहीं हो सकता। ठीक वैसे जैसे एक अच्छी फिल्म को आप वर्णन लिखकर चित्रित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति के हर माध्यम की अपनी भाषा होती है। आदर्श स्थिति वह है जिसमें विधा और उसकी अंतर्वस्तु में एकत्व हो। सौंदर्यशास्त्र में यह मान्य सिद्धांत है। विधा आखिर किसी चीज को देखने और अभिव्यक्त करने का एक रूप है। एक विधा में देखे हुए को दूसरी विधा में देखना रूपांतरण होगा, रूप नहीं। ऐसा नहीं है कि किसी राग में गजल, गीत या भजन सुनना निस्सार अनुभव हो। इसकी हमारे यहां लंबी परंपरा है। लेकिन किसी वाद्य यंत्र पर सरकते राग या ध्रुपद के आलाप की तुलना गजल गायकी से नहीं की जा सकती। संगीत का आदर्श रूप तभी है जब वह सिर्फ स्वर पर आधारित हो, शब्दों की अदायगी पर नहीं।

इसलिए सिनेमा में इस तरफ पहलकदमी देखकर खुशी होती है। उम्मीद की जा सकती है कि आने वाले दिनों में ज्यादा फिल्मों में हम कथ्य की तलाश फिल्म की अपनी भाषा में होते पाएंगे। यानी उन फिल्मों की पटकथा फिल्म खुद रच रही होगी, कोई जानी-पहचानी कहानी या कथाकार नहीं।